

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-VIII

स्कूल का चलना I : अनुशासन समिति

फ़राह फ़ारूकी

लेखक परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

जब शुरू में स्कूल का काम संभाला तो लगा कि कुछ समितियां या कमेटियां बनाई जाएं जो स्कूल में अलग-अलग तरह के काम संभालें ताकि स्कूल ठीक चले। यहां स्कूल के “चलने” और समाज के “ठहराव” के बीच के ताल्लुक को अनुशासन कमेटी के काम की चर्चा के द्वारा उभारा गया है। इस किस्त में यह जिक्र है कि अनुशासन से हमारे टीचर क्या समझते हैं। किस तरह नियम और उसूलों के ज़रिए बच्चों को एक खाके में उतारने की कोशिश है। यह भी सवाल यहां उठाए गए हैं कि क्या बगैर सोचे-समझे बनाए गए उसूल या नियम समाज को बदल सकते हैं? क्या ये बच्चों के खयालात, सोच, समझ पर असर डालते हैं?

स्कूल में अनुशासन और अनुशासन कमेटी

इससे पहले कि हम कमेटी के कार्य की बात करें, मैं चाहती हूँ कि आप नीचे दी गई बातचीत पर गौर करें। यह एक रिसर्चर और स्कूल के एक अध्यापक के बीच हुई। यह अध्यापक लाइब्रेरी में बैठे बच्चों के बारे में गुप्तगू कर रहे हैं। हफ्ते में तीन बार यह सातवीं जमात के इन बच्चों को लाइब्रेरी लेकर जाते हैं। रिसर्चर के हिसाब से, जिस वक़्त यह बातचीत हुई, उस वक़्त कई बच्चे एक पत्रिका को चाव से पढ़ने की कोशिश में थे। क्रिकेट के बारे में कुछ बहस चल रही थी। कुछ और बच्चे किताबों के पन्ने पलट रहे थे। कई अपनी सीट से उठकर दोस्तों को कुछ दिखाने-पूछने जा रहे थे। कई लड़कियां हाथ में किताब लिए आपस में कुछ बातें कर रही थीं। शोर-शराबा नहीं था, बड़े सुकून से काम चल रहा था।

टीचर : ‘आप एम.ए. में हैं, इनको डिसिप्लिन करके दिखाइए, आपके लिए नया एक्सपीरियन्स होगा।’

रिसर्चर : ‘इनमें से कुछ को पढ़ना आता है, कुछ को नहीं, जिनको नहीं आता वह पिक्चर वगैरा देखेंगे, बात करेंगे।’

टीचर : ‘फिर भी डिसिप्लिन में तो होना ही चाहिए।’

रिसर्चर : ‘यह ही थोड़ा होता है कि चुपचाप बैठे रहो।’

टीचर : ‘क्यों, एक साथ मिलकर बातचीत करना, एक जगह से दूसरी जगह जाना, यह डिसिप्लिन हुआ?’

आप देख ही सकते हैं कि अनुशासन का मतलब इन टीचर के लिए सीखने से जुड़ा नहीं है। ऊपर दी गई बातचीत के अलावा

भी इन टीचर और कई उस्तादों की बातचीत से अन्दाज़ा होता है कि इसका मतलब है: बच्चे अपनी सीटों पर खामोशी से बैठे हों, एक खास मुद्रा हो, चौकस या चौकन्ने नज़र आएँ। एक अच्छे शागिर्द से जुड़ी हुई कुछ और छवियाँ जो कई टीचर के दिमाग में हैं, इसमें शामिल हैं : सही यूनिफॉर्म में साफ़-सुथरा नज़र आना, बाल छोटे (बगैर किसी खास स्टाइल के) कटे हुए, बातचीत में तमीज़-तहज़ीब, सवाल किए बगैर बात सुनना-समझना, बात करते वक़्त जेबों में हाथ न हों, नज़रें नीचे झुकी हों, सही ज़बान या कम से कम सही तलफ़्फुज़ का इस्तेमाल करें वगैरा-वगैरा। इन छवियों पर पूरा उतरना अनुशासन में होना माना जाता है। अनुशासन की जगह अगर मैं “कन्ट्रोल” शब्द का इस्तेमाल करूँ तो ग़लत नहीं होगा क्योंकि न सिर्फ़ हमारे टीचर इस शब्द का इस्तेमाल कसरत से करते हैं बल्कि कन्ट्रोल करने को ही अनुशासन माना-समझा जाता है। आगे दी गई तस्वीरों से आपको अन्दाज़ा होगा कि जाने-अनजाने बच्चों के जिस्म, दिमाग़, जगह के इस्तेमाल, उड़ान, शरारत, यकीन सबको डिसिप्लिन नहीं बल्कि कन्ट्रोल करने की कोशिश है। अगर आप कन्ट्रोल शब्द को ज़हन में रखते हुए ऊपर दी गई तस्वीरों का मुताल्ला करेंगे तो महसूस होगा कि वाकई एक खास तरह के बच्चे का निर्माण करने की मशीनी कोशिश है। क्योंकि इनमें से ज़्यादातर छवियाँ ऐसी हैं जो बच्चों के स्वाभाविक रूप से परे हैं तो ठोक-बजाकर ही तो ख़ाके में उतारा जाएगा। यह ख़ाका क्योंकि कुलीन वर्गों के ज़हन की उपज है इसलिए इन मज़दूर बच्चों की और मज़दूर परिवारों के बच्चों की सामाजिक सच्चाई इसके तसव्वुर में शामिल नहीं है। अब इस ख़ाके में उतारने के लिए इन्हें औरों के मुक़ाबले में ज़्यादा ठोक-पीटा जाएगा। भई, स्कूल की नज़र में यह जायज़ भी है, क्योंकि इन्हें “तरबियत” की सख़्त ज़रूरत है। आप अध्यापकों द्वारा किया गया बच्चों का चित्रण तो पिछली किस्त में पढ़ ही चुके हैं।

ठोकना, बजाना : नियम, कानून

हर स्कूल की तरह नियम कानून हमारे इदारे का भी हिस्सा हैं। इनमें से ज़्यादातर ऐसे हैं जो सोच-समझकर नहीं बनाए गए हैं बल्कि हमने अपने ऊपर लाद से लिए हैं। इनमें नियमित रूप से स्कूल आना और वक़्त की पाबंदी अहम है। कहा जाता है कि यह गुण तो तालीम का हिस्सा है। अब इस बात को नकारा भी नहीं जा सकता है। हमारे यहां काफ़ी बच्चे स्कूल देर से पहुंचते हैं। पहले यह तादाद काफ़ी ज़्यादा थी अब घटकर 40-45 रह गई है। इस फ़िक्र के साथ कि इन पर भी “काबू” पा लिया जाए ताकि वक़्त की पाबंदी करें, नए-नए तरीक़े ईजाद किए जाते हैं। आजकल जो तरीक़ा अपनाया गया है, उसमें शामिल है: जो ज़्यादा लेट हों उन्हें वापस भेज दिया जाए, जो स्कूल शुरू होने के एक घंटे के अन्दर-अन्दर यानी असैम्बली के चलते आ जाएं उन्हें अलग क़तार में खड़ा होना पड़ता है। असैम्बली ख़त्म होने के बाद बाकी बच्चे तो क़तारों में अपनी-अपनी कक्षाओं में चले जाते हैं। नियम का उल्लंघन करने के “मुजरिम” बच्चों से हमारी अनुशासन कमेटी “डील” करती। क्योंकि कमेटी के एक या दो मैम्बर ही यह काम करते हैं, इसकी गुंजाइश बहुत कम होती है कि वे हर बच्चे और उसकी ज़िन्दगी की हकीकत को क़रीब से जानें। यानी अगर कोई एजाज़ जैसा बच्चा है जो स्कूल से वापस जाने के बाद दोपहर दो बजे से रात नौ बजे तक कारख़ाने में काम करता है और फिर रात नौ बजे से सुबह के दो बजे तक वहीं ओवरटाइम करता है, तब उसके लिए सुबह सात बजे स्कूल पहुंचना दुश्वार तो होगा ही। लेकिन बच्चों की बात अगर सुनी भी जाती है तब भी उनकी झोली में उपदेश, तरबियत, पैग़ाम या काउंसिलिंग ही डाल दी जाती है। यानी बयान पर यकीन कम ही किया जाता है। शायद, भरोसा न करना भी काबू पाने के बहुत से हथियारों में से एक हथियार है। इसके अलावा बाकी ठोकने-बजाने के औज़ार इस तरह हैं - इस बार स्कूल डायरी में बाकायदा ख़ाका बनाया गया है जिसमें अनुशासन इंचार्ज दस्तख़त करते हैं। अगर महीने में कोई बच्चा तीन बार लेट हो जाता है जिसका दस्तावेज़ी सुबूत कमेटी के पास होता है तो उसे स्कूल में दाख़िल होने की इजाज़त तब ही मिलती है जब वह अपने वालदैन को बुलाकर लाता है। अब मज़दूरों को अपनी बेतरतीब मुश्किल ज़िन्दगी से वक़्त निकालना कितना मुश्किल होता है, वह एक अलग कहानी है।

इसी तरह नियमित रूप से स्कूल न आना ज़्यादा ही बेकाबू होना दर्शाता है इसलिए नियम-कानून का ज़्यादा कड़ा होना लाज़मी है। नवीं से बारहवीं तक के बच्चों के लिए 75 फ़ीसदी हाज़िरी ज़रूरी है। आठवीं तक शिक्षा अधिकार कानून के तहत कुछ लचीलापन इख़्तियार करना हमारी मजबूरी है। नवीं से बारहवीं तक अगर 75 प्रतिशत न होकर 60 प्रतिशत हाज़िरी होती है तब भी काम चल जाता है। बीमारी-आज़ारी की बिना पर 10 प्रतिशत की छूट प्रिंसिपल के हाथ में होती है, बाकी 5 प्रतिशत की छूट शिक्षा विभाग के अफ़सर प्रिंसिपल की सिफ़ारिश पर दे देते हैं। हमारे यहां काफ़ी बच्चे ऐसे हैं जिनकी हाज़िरी 60 प्रतिशत तक ही बमुश्किल बन पाती है। कहीं न कहीं से डॉक्टरों की सर्टिफ़िकेट लाकर काम चलाते हैं। सातवीं के अहमद इक़बाल ऐसे बच्चों में शामिल हैं। बड़े इतमिनान से कहते हैं, “भैम हफ़्ते में तीन-चार दिन से ज़्यादा स्कूल आना मुश्किल है। टायर की फेरी के लिए जाना पड़ता है। कभी-कभी तो लगता है कि इतना भी नहीं हो पाएगा।” अहमद एक टायर की दुकान में काम करते हैं।

मुझे लगता है कि हम दो वजह से हाज़िरी में लचीलापन लाना, दस्तूर और नियम का हिस्सा नहीं बना पाए हैं। वैसे भी हम नियम-कानून को मजबूरी और बंदिश ही नहीं बल्कि अपने-आपसे भी ऊपर और परे मान चुके हैं। इनके बग़ैर इदारों का तसव्वुर ही अधूरा-सा लगता है। लगता है कि इदारे इन्हीं के बलबूते पर “चल” रहे हैं। इसकी एक वजह है कि यह फ़ैसला करना हमारे टीचर हज़रात के लिए मुश्किल ही है कि बच्चों में से न आने की किसकी वजह जायज़ है और छूट का मुस्तहिक़ है और कौन यूं ही आदतन स्कूल नहीं आ पाता है। दूसरी वजह है कि जो नियम-कानून खासतौर से शिक्षा विभाग से जारी होते हैं वह तो हमें और ज़्यादा बेआवाज़ कर देते हैं। लगता है उच्चतम न्यायालय से जारी हुक़म हैं जिसमें बहस की गुंजाइश नहीं है। शायद हमारी आपसी दूरियां - मिलने-बात करने, बहस करने के न के बराबर मौक़े, अफ़सरशाही तंत्र में किससे मोल-भाव करें, यह धुंधलापन, जिस विभाग से हमें अपने अध्यापकों की तन्खाह के लिए 95 प्रतिशत की राहत मिलती है उसकी सत्ता का एहसास - हमें जाने-अनजाने चुप्पी साध लेने पर मजबूर-सा करते हैं। इसलिए हम 10 प्रतिशत की जायज़ छूट भी अगर किसी बच्चे को देते हैं तो वह उसका हक़ नहीं बल्कि रहम की भीख ही मालूम होती है। यह करना इदारों की ताक़त बच्चों की नज़र में और बढ़ा-चढ़ा देता है। अब हमारे प्रिंसिपल साहब जब खुले दिल और हाथों से 10 फ़ीसदी हाज़िरी बांटते हैं तो उनकी “इनायत” महसूस होती है। लेकिन इस “इनायत” का नतीजा यह होता है कि जो बड़ी आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां हैं जिसकी वजह से यह बच्चे स्कूल आने में असमर्थ हैं उन पर नकाब ही नहीं डालता है बल्कि जायज़ आवाज़ों को मौक़ा नहीं मिलता है और हक़ ऐसी स्थिति में दान महसूस होता है। अगर कोई बच्चा ज़्यादा मजबूर है और 5 प्रतिशत हाज़िरी की छूट शिक्षा विभाग से मिलनी है तो उसे ज़्यादा मशक्कत करनी होती है। यानी हमारा तंत्र मजबूर को और ज़्यादा मजबूर बना देता है। सहारा देना तो दूर की बात है। जब ऐसे बच्चों की सही तादाद सामने आएगी तब ही नीति के स्तर पर किसी तरह के इन्तेज़ाम का बन्दोबस्त होगा। लेकिन अफ़सरशाही तंत्र, स्कूल का सीढ़िनुमा निज़ाम, कमज़ोर आवाज़ों को “इनायत” के पीछे ढक देता है।

जब इन मुद्दों को लेकर बहस नहीं हो पाती है और हम अपने लिए समझे-बूझे उसूल नहीं बनाते हैं तब कई बार हम सही-ग़लत के बीच या “ईमानदारी-बेईमानी” के बीच फ़ैसला नहीं कर पाते हैं। जैसे हमारी एक “ईमानदार” टीचर की क्लास के ग्यारह बच्चों को इम्तिहान में बैठने से रोकना पड़ा। क्योंकि 15 प्रतिशत बख़्शने के बाद भी हाज़िरियां पूरी नहीं हो पाईं। प्रिंसिपल साहब से पूछा तो पता चला कि भई कुछ करना नामुमकिन है क्योंकि सब रिकॉर्ड पूरी “ईमानदारी” के साथ पूरे हैं। बच्चों के मां-बाप से इस बयान पर दस्तख़त भी लिए जा चुके हैं कि बच्चों की हाज़िरी बहुत कम है। यानी अपनी “ईमानदारी” और बच्चों के “जुर्म” के तमाम सुबूत टीचर के पास मौजूद थे। इस तरह ग्यारहवीं कक्षा के बच्चों को जिनके लिए एक साल की क़ीमत औरों के मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा है, इम्तिहान देने से रोक लिया गया। इस “ईमानदारी” के पीछे की वजह काफ़ी पेचीदा है। चलिए, इसे तो “मामूली” वजह मान लेते हैं कि बच्चों की ज़िन्दगी की हक़ीकत को यह टीचर भी औरों की तरह न तो जानती हैं, न एहमियत ही देती हैं। इसके अलावा जो बात ग़ौर तलब है वह यह कि इन टीचर का स्कूल इन्तेज़ामिया से छतीस का आंकड़ा रहता है, जिसमें मैं मानती हूं कि इनकी खुद की बहुत-सी ग़लतियां हैं। ऐसे में कागज़ी कार्यवाही में एहतियात और ईमानदारी

बरतना इनकी मजबूरी हो जाती है, कहीं कोई इस बिना पर इन्हें दबोच न ले। दूसरी तरफ़ अगर इन्तेजामिया इन्हें कुछ लचीलापन इख़्तियार करने या “बेईमानी” करने की विनती करता है तो इसे अपने गिरेबान की फ़िक्र होती है। इस सूरत में ग्यारह बच्चों का साल कुरबान करना ही आसान चारा नज़र आता है। इन ग्यारह में से एक या दो बच्चे जिन्हें एक और साल लगाना मंहगा पड़ रहा था, स्कूल छोड़ गए। या फिर हमारी “ईमानदारी” की बलि चढ़ गए। स्कूल में कम से कम 40 फ़ीसदी बच्चे हैं जिनको टीचर “बेईमानी” करके किसी तरह 60 फ़ीसदी हाज़िरी तो दे ही देते हैं ताकि बाकी 15 फ़ीसदी “दान” में मिल जाएं और काम चल जाए। उस वक़्त तो काम चल जाता है लेकिन इन बच्चों को क्या पता कि इस वजह से इनकी गिनती कुसूरवार में हो रही है, मजबूर में नहीं। इतने सारे बच्चे अपनी दुश्वारी-मजबूरी बुलन्द आवाज़ से कह पाते तो नीति के स्तर पर शायद कुछ हिलता-डुलता।

और कन्ट्रोल

हमारे प्रिंसिपल साहब कई बार ज़िक्र करते हैं, “मैम, सुबह के वक़्त तो मैं बाहर बरामदे में अकसर बैंच पर बैठ जाता हूँ, तब तक तो स्कूल अच्छा चलता है, सब कन्ट्रोल में रहता है। फ़ाइलों का काम करने जब अन्दर ऑफ़िस में बैठता हूँ तब ही शोर-ओ-गुल आफ़त आ जाती है।” जिस बैंच पर हमारे प्रिंसिपल साहब सुबह के वक़्त बैठते हैं, वहां से 8-9 कक्षाएं, बाहर का गेट, स्टाफ़ रूम, ऑफ़िस, पानी पीने का नल, कैन्टीन की तरफ़ जाने वाला रास्ता साफ़ नज़र आता है। इस तरह कन्ट्रोल से मतलब हुआ निगरानी और उनकी रुत्बे से जुड़ी सत्ता कर डर। यानी डंडे के ज़ोर पर ही अम्नो-अमान कायम रहता है। यह भी साफ़ है कि डंडे के ज़ोर पर ही मामला ठीक-ठाक चलता है, जैसे ही डंडा हटा, मामला बेकाबू। भई, हम बाहरी समाज के लिए अपने बच्चों को तैयार कर रहे हैं, सत्ता के आगे झुके रहो, मौक़ा मिलते ही मनमानी करो। दूसरी चीज़ जिस पर मैं चाहती हूँ कि आप ग़ौर करें वह है स्कूल “अच्छा चलने” से मुराद। यहां फिर अच्छे का मतलब कक्षाओं में पढ़ने-लिखने के मेयार से जुड़ा नहीं है। “अच्छे” से मतलब है कि ख़ामोशी और सुकून के साथ टीचर और शागिर्द, कक्षाओं में हों, बाहर बरामदों में और यहां-वहां घूमते-टहलते नज़र न आएँ। यह ज़रूर है कि पढ़ने-लिखने के लिए अकसर बच्चों-बड़ों का साथ होना लाज़मी हो जाता है, बस इस हद तक तो हमारे प्रिंसिपल साहब की फ़िक्र दुरुस्त है।

“कन्ट्रोल” के चक्कर में हमारे यहां बहुत से और करतब भी किए जाते हैं। जैसे, हमारे यहां तक़रीबन रोज़ ही, सुबह की शिफ़्ट में पैंतीस में से कम से कम छः-सात टीचर तो गैर-हाज़िर रहते ही हैं। कभी तो यह गिनती चौदह तक भी पहुंच जाती है। ऐसे में बच्चों को “कन्ट्रोल” करने या कक्षाओं में क़ैद करने के लिए, बाकी उस्ताद जो स्कूल में उस दिन मौजूद हैं उनकी ड्यूटी गैर-हाज़िर टीचर के ख़ाली पीरियड की कक्षा में लगाते हैं। इसे हम अरेंजमेन्ट पीरियड कहते हैं। कई बार मैंने नीचे दिए गए नज़ारे से मिलता-जुलता नज़ारा कई अरेंजमेंट पीरियड वाली कक्षाओं में देखा है।

नज़ारा : हमारी टीचर कक्षा के पीछे या बीचों-बीच मेज़ पर चढ़ी बैठी हैं। पैर कुर्सी या बच्चों की सीट पर रखे हुए, हाथ में मोबाइल लिए बातों में मस्त हैं। दूसरे हाथ में ली हुई छड़ी बेख़याली में ऊपर-नीचे हो रही है या फिर फ़ोन पर हो रही बातचीत की गर्मी-नर्मी का असर है। बेफ़िक्र अंदाज़ ऐसा कि लगता है बादशाह सलामत कनीज़ों के बीच में हैं जिनकी मौजूदगी का उन्हें ऐहसास तक नहीं है। बच्चे दोस्तों के साथ बैठने की कोशिश में दो की बजाय एक सीट पर तीन या चार बैठे हैं और सामने किताब खुली हुई, सर झुकाए धीरे-धीरे बात करते मुस्कुराते हुए नज़र आते हैं। कभी-कभी बातों की आवाज़, बहस या खेल के दौरान कुछ तेज-सी हो जाती है। तब एक कड़कदार आवाज़ सुनाई देती है - “चुप” या फिर “चुप रहो”। आवाज़ें और शोर फिर दबकर खुसुर-पुसुर या फुसफुसाहट में तबदील हो जाता है।

यह सोचकर कि यह काम करने वाले या हरकत में रहने वाले, आसमान सर पर उठा लेने वाले शरारती बच्चे हैं जिन्हें सत्ता की पहचान और ज़बान सिखाई जा रही है, कुछ दिल पर चोट-सी पहुंचती है। अगर इस वक़्त यह अपनी हैसियत

को ज़माने, जिसका हिस्सा स्कूल भी है, उससे जोड़कर देखेंगे तो इनके दिल-दिमाग पर क्या गुज़रेगी? क्या स्कूल या तालीम इन्हें कभी यह समझ बख़्शेगा कि यह इस बेआवाज़ षड़यंत्र जो इन्हें ख़ामोशी की ज़बान सिखा रहा है, उसे पहचान पाएंगे। ख़ैर, हमारे बच्चों के प्रतिरोध का भी निराला अन्दाज़ है, इसकी बात आगे करूंगी।

जब ज़्यादा टीचर ग़ैर-हाज़िर होते हैं तब कोशिश होती है कि बच्चे किसी तरह “दड़बे” में बंद रहें। क्योंकि हर कक्षा में अरेंजमेंट लगाना मुश्किल हो जाता है तब एक टीचर की एक बरामदे में ड्यूटी लगाई जाती है ताकि वह एक साथ कई कक्षाओं को कन्ट्रोल कर पाएंगे। ड्यूटी में शामिल है यह देख पाना कि बच्चे दड़बे यानी कक्षाओं के बाहर न हों, शोर-ओ-गुल न करें ताकि बाकी कक्षाएं सुकून से चल सकें। अरे भई, यह भी तो बता दें कि वह इन बेरंग अंधेरे से “दड़बों” में क्या करें? ऐसा माहौल तो हम बना नहीं पाए हैं कि बच्चे अंदर ही बैठकर खेल खेलें, पढ़ें या और कोई काम करें।

बच्चों पर शिकंजा कसने के लिए हमने और भी तरकीबें निकाल रखी हैं। हां, पुरज़ोर कोशिश तो है, अब कितना शिकंजा कसा जाता है, वह तो अलग ही कहानी है। हमारी डिसिप्लिन कमेटी के मिनिट्स में दर्ज है: “छात्रों को बग़ैर आउटपास (Out Pass) के बाहर न जाने दिया जाए” (तर्जुमा किया गया है)। हमारे यहां सुकून और ख़ामोशी का माहौल बरकरार रखने के तजुरबों में यह शामिल है। हर कक्षा के क्लास टीचर के हवाले तीन पास कर दिए गए हैं। इनमें क्लास टीचर और प्रिंसिपल के हस्ताक्षर हैं। एक वक़्त में किसी एक कक्षा के तीन बच्चे ही किसी ज़रूरी काम से पास लेकर बाहर जा सकते हैं। वैसे अगर आप स्कूल आएंगे तो चहल-पहल देखकर अंदाज़ा होगा कि यह बस कागज़ पर दर्ज उसूल है, जिसकी कुछ ख़ास ऐहमियत नहीं है।

ऐलान-ए-जुर्म और सज़ा

यह गुमान तो हमें है ही कि हम बच्चों के भले के लिए, तरबियत के लिए, काम की दुनिया में साबित क़दम रखने के लिए, इस्लाह के लिए, कौम के लिए काम कर रहे हैं। इस गुमान के साथ मिला-जुला यह एहसास भी है कि यह बच्चे हमसे कमतर हैं। चाहे यह हमारी चेतना का हिस्सा हो या नहीं। यह मिला-जुला एहसास ही हमें उपदेश, तरबियत के अलावा उदारता या ख़ैरात के दान के लिए तो तैयार करता है लेकिन इन बच्चों को इज़्जत और बराबरी का हक़ देने से रोकता है। यही वजह महसूस होती है कि हम बच्चों के हालात और ख़यालात जाने बग़ैर उन पर उसूल, नियम, क़ानून लाद देते हैं। सज़ाएं जो मुक़रर की जाती हैं उनका फ़ैसला भी बच्चों की ज़िन्दगी को देखे-समझे बग़ैर किया जाता है।

हमारे डिसिप्लिन इंचार्ज का कहना है, “प्रोबलम है कि यहां का कल्चर ऐसा ही है। ये (कल्चर) भी अलग-अलग होते हैं। उनमें यहां का वर्स्ट (Worst) है। यहां घरों में दो-दो बजे सोते हैं। घर के जेन्ट्स बाहर बैठे रहते हैं और औरतें घर में टी.वी. देखती हैं, लड़के भी बाहर बैठे रहते हैं और लड़कियां टी.वी. देखती हैं। यहां घरों में कमरे भी छोटे-छोटे हैं। घर का माहौल पढ़ाई-लिखाई वाला नहीं है। कभी टीचर से आकर नहीं पूछते, पी.टी.ए. मीटिंग में भी नहीं आते। बस बच्चों को स्कूल में धक्का दे देते हैं...”।

हमारी उदारता देखिए, हम धक्का दे दिए गए बच्चों को पढ़ा रहे हैं, सहारा दे रहे हैं। जैसा कि बातचीत से ज़ाहिर है इन बच्चों का हमसे अलग और “अजीबो-ग़रीब” रहन-सहन होने के बावजूद हम कोशिश कर रहे हैं। अब ऐसे बच्चों को अगर “इंसान” बनाना है तो काबू में करना, ठोकना-बजाना तो पड़ेगा ही। जायज़ है, यह ही कहने की कोशिश है न हमारे उस्ताद साहब की, क्यों?

यहां यह सवाल उठाना ज़रूरी है कि क्या हम स्कूल को एक ख़यालात बदलने, सोच-समझ में बदलाव लाने और बच्चों को खुदमुख्तारी और हिम्मत देने वाली जगह के रूप में देख रहे हैं या नहीं? क्या सज़ा देना किसी ग़लत हरकत से बच्चों को बस आरज़ी तौर पर ही रोक पाएगा या फिर चेतना भी जगा पाएगा? कई तरह की सज़ा के बारे में तो आप पढ़ ही चुके हैं: जैसे ग़ैर-हाज़िर होने पर, देर से आने पर। वैसे हमारे अस्तादज़ा को मलाल है कि शिक्षा विभाग

ने उनके हाथ से डंडा छीन लिया है, वरना सब काबू में रहता। डंडा छीन लेने से मुराद है, शिक्षा के अधिकार के तहत सज़ा पर पाबंदी। मुझे लगता है कि बाहर मैदान में सबकी मौजूदगी में मारना तो शायद कम हुआ है, कक्षा के अंदर थप्पड़, गाली-गलौज बदस्तूर जारी है।

सारे नियम-कानून अनुशासन कमेटी और शिक्षा विभाग ही तो नहीं बनाएंगे। कुछ अनकहे नियम-दस्तूर भी हैं। इनका उल्लंघन टीचर को सज़ा देने का हक़ तो देता ही है। अब काम पूरा करना और पढ़ाई-लिखाई करना तो जरूरी है ही। जब हम कक्षा में जाकर बच्चों के ज़हन में इल्म “उड़ेलने” की कोशिश करते हैं तो बच्चों का भी फ़र्ज़ है कि काम पूरा करें। नहीं करते तो सज़ा देने का “स्वाभाविक” हक़ तो हमें है ही। एक टीचर जो कई में से एक हैं कक्षा में ही बच्चों की कॉपियां महीने में तीन बार चेक करती हैं। एक दिन का नज़ारा पेश है:

आठवीं कक्षा के 28 बच्चों में से 17 बच्चे खड़े हैं। हर बच्चे के दोनों हाथों पर एक-एक करके 5-6 बार डस्टर से मार पड़ रही है। बच्चे सर झुकाए खड़े हैं और कहने पर हाथ आगे कर देते हैं।

टीचर : “सारी क्लास खड़ी है। सारा काम बोर्ड पर करवाने के बावजूद लापरवाही। ये देखो सुहेल। इतने अच्छे बच्चे सब ख़राब होते जा रहे हैं। कोई फ़िक्क नहीं है। (आमिर के पास जाकर) पढ़ना नहीं है? बस आते हैं और चले जाते हैं। घर वालों के पैसे बर्बाद करते हैं। नाम कटवा लो।”

(कुछ बच्चे बैठ जाते हैं)

टीचर : “यह बैठे कैसे हैं? खड़े हो जाओ कल मार खाने के बाद भी यह हाल है। परसों सबका काम पूरा होना चाहिए।”

हमें बच्चों की भलाई और इल्म हासिल करने की फ़िक्क यह सज़ा देने का “हक़” तो देती ही है। देखिए, बच्चे भी कितने डीट हैं। कल मारा था, आज वही हाल, अब परसों देखिए आज की मार का शायद कुछ असर हो। यह हम कैसे जानें कि काम आखिर क्यों नहीं किया, काम तो हर हाल में करना ही चाहिए। इसी तरह एक दिन जब मैं स्कूल पहुंची तो एक बच्चे की मां शिकायत लेकर आई थी। पता चला टीचर ने मुन्ना और उसके साथियों को लोहे की छड़ी से मारा था, जिससे मुन्ना के हाथ पर सूजन आ गई थी। मां की दुहाई थी कि “मारो, मारने के लिए मना नहीं कर रहे हैं, जब पढ़ाएंगे तो मारेंगे भी, लेकिन इतनी बेदर्दी से तो मत मारो।” टीचर ने पूछने पर कुबूला कि उन्होंने ऐसा किया, उनका कहना था कि हर तरह समझा लिया था जब नहीं माने और शरारत जारी रही तो “मज़बूरी” के तहत मारना पड़ा। उस दिन तो पूरा ग्रुप क्लास से नौ दो ग्यारह हो गया था। वापस आए तो मार पड़ी। जब इस बात का जिक्र मैंने अपनी बुजुर्ग तजुर्बेदार खेल की टीचर से किया तो उन्होंने नफ़स पर हाथ रख दिया और बोली, “भई, ऐसे बच्चे हर क्लास में हैं और इनका धोबी के गधे जैसा हाल है। न घर के न घाट के। क्लास में क्या कर पाएंगे पढ़ना-लिखना तो आता नहीं है। सीसीई की वजह से ग्यारहवीं तक किसी तरह पहुंच गए हैं। मैं तो कहती हूँ कमबख़्तो तुम्हारे बच्चे जूत फेरेंगे कि हमें कुछ पढ़ा भी नहीं सकते हैं। इस पर हंसकर कहते हैं कि बीवी पढ़ी-लिखी ले आएंगे। मैंने कहा, वो भी मारेंगी। तो कहा, किसी की तो मार खानी ही होगी, उसकी खा लेंगे। क्या करें बेचारे कहते हैं, मैम अब हम पढ़ने की कोशिश भी करते हैं तो कुछ समझ में नहीं आता।”

ख़ैर, कभी और तफ़सीली ज़िक्र करूंगी कि कक्षा में पढ़ाई-लिखाई का काम जिस तरह होता है और इम्तिहान का बंदोबस्त दोनों ही अनुशासन में करने के तरीके ही हैं।

कई बार आपातकालीन स्थितियों में कमेटी की मीटिंग बुलाकर सज़ा तय की गई है। जैसे मैंने पिछली एक किस्त में लिखा था कि दसवीं जमात के एक बच्चे ने एक नोउम्र महिला टीचर को तंग करने के लिए कक्षा चलने के दौरान वरजिनिटी और इन्टरकोर्स के माइने पूछ लिए थे। इस बच्चे को एक हफ़्ते के लिए स्कूल से बेदख़ल कर दिया गया। कमेटी का यह भी इस्सारा रहा कि सज़ा का ऐलान बल्कि सभी सज़ाओं का ऐलान असेम्बली में किया जाए। कहना

था कि इस तरह एक तो कुसूरवार को ज़्यादा शर्मिंदगी का एहसास होगा और बाकी बच्चों में भी डर पैदा होगा कि इस तरह की हरकत सज़ा की मुस्तेहक होगी। खैर, मेरे कहने पर इस तरह के ऐलान असेम्बली में नहीं हुए। जब मैंने स्कूल से बेदखल किए गए बच्चे के बारे में पूछा, “क्या हमारे बिलाल मियां कुछ बदले?” तो कहा गया कि, “अब तो दुरुस्त हो गए हैं। देखिए, असर कितने दिन रहता है।” आपसे पूछती हूँ, असर जारी रखने के लिए क्या सज़ा हर थोड़े दिन में देते रहना होगा?

कुछ इसी तरह की सज़ा, अश्लील और यौनिक दुर्व्यवहार के मुजरिम बच्चों को दी गई। जैसे कई लड़कों ने मिलकर अपनी कक्षा के एक लड़के के साथ यौनिक हिंसा की कोशिश की। पता चलने पर इन बच्चों को स्कूल से काफ़ी समय के लिए निलंबित कर दिया गया। मुझे शक है कि उनमें से एक को तो स्कूल से निकाल भी दिया गया।

इस सिलसिले में मुझसे जो बात हुई वह दबे अल्फ़ाज़ में कुछ यूँ की गई। एक कमेटी मैम्बर ने कहा, “मैम, बताने में भी शर्म आ रही है, लेकिन एक लड़के के साथ दसवीं क्लास के तीन-चार लड़कों ने बदतमीज़ी की, पैंट भी उतारने की कोशिश की, लड़का बुरी तरह कांप रहा था।”

मैं यहां कहना चाहती हूँ कि स्कूल में सज़ा के तौर पर मारना-पीटना, बुरे अल्फ़ाज़ कहना, निकाल देना, सभी कुछ जारी रहता है। जेल में ख़तावार को बंद किया जाता है, स्कूल से निकाल बाहर कर दिया जाता है। जेल में कम से कम न्यायालय में सुनवाई तो मुमकिन है, हमारे यहां वह भी नहीं। बहस के, बात कहने-सुनने के मौक़े कम ही हैं बल्कि न की बराबर कहें तो ग़लत नहीं होगा।

क्या ऐसी सूरत में हम मुद्दों की जड़ तक जाकर बदलाव की सूरत निकाल सकते हैं? बिलाल मियां के अलावा और बहुत से बच्चे अश्लील हरकतें करते हैं। क्या हमें इन बच्चों के मर्दानगी, औरतपन से जुड़े तसव्वुर को नहीं समझना चाहिए। यह तसव्वुर इन्हें किस तरह की ग़ैर-ज़रूरी हिम्मत दे देता है कि यह टीचर तक से बदतमीज़ी कर जाते हैं। कैसे इस तसव्वुर का जुड़ाव उनके काम की दुनिया और मुख़तलिफ़ समाजी आयामों से है, यह समझने की ज़रूरत है। यह समझते हुए, एक इज़्जत और हिम्मत का रिश्ता इन बच्चों से बनाकर खुले माहौल में बातचीत और बहस के मौक़े देने की ज़रूरत है। मुझे यकीन है कि इतने ज़हीन बच्चों को बस इशारा चाहिए, चीज़ें अपने-आप बदलने लगेंगी। अगर इन न्यायालयी नियमों, उसूलों और फ़ैसलों पर बहस, तर्क पर आधारित तबदीलियों की गुंजाइश होगी तभी बच्चे को यह महसूस होगा कि हुक़म को बजा लाना और ताबेदारी स्कूल और दुनिया को चलाने के उसूल नहीं हैं। इस तरह उन्हें संघर्ष और बदलाव की राह नज़र आएगी। एक खुदमुख़तार इंसान बनेंगे न कि एक वस्तु जिसे दबाया, तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है।

लेकिन अफ़सोस हमारे पास बस तरबियत और इस्लामी तालीम है, अब इसका बच्चे जितना भी असर लें या न लें। हमारे डिसिप्लिन इंचार्ज साहब का कहना है कि हम हर तरह से समझाते हैं, जैसे:

“भैंने कहा कि आज तुम स्कूल आते हो तो तुम्हारे मां-बाप के मन में है कि तुम पढ़कर कुछ बनोगे। जो हालात आज हैं वह कुछ सुधर जाएंगे। कभी अपनी मां की आंखों में झांकने की कोशिश करना वह तुमसे उम्मीद लगाए बैठी है कि तुम कुछ बनोगे। तुम्हारी इन हरकतों से उन्हें कितना दुख होता होगा।”

अब इन जज़बाती अल्फ़ाज़ का कुछ असर तो शायद होता ही होगा। ढांचे बदलें या न बदलें। काश, पंचतंत्र की कहानियों से दुनिया बदल पाती! इसके अलावा हमारे कई टीचर मज़हबी तालीम का इस्तेमाल भी करते हैं, बच्चों की तरबियत के लिए। हमारे एक टीचर के हिसाब से:

“हमें समझाना, बताना चाहिए कि बहैसियत मुसलमान हम इस्लामी तालीम को अपनी ज़िन्दगी में लाने की कोशिश करें। यह बताने की ज़रूरत है कि अल्लाह नाराज़ होगा, रसूल अल्लाह नाराज़ होंगे। आख़िरत का तसव्वुर मौजूद है। तभी यह बच्चे तालीम की तरफ़ रूजूह होंगे और इनकी पर्सनैलिटी बनेगी।”

भला बताइए, खुदा से और आखिरत के तसव्वुर से भी डराया-धमकाया ही जा रहा है। यानी अनुशासन में करने की कोशिश है। अब बच्चे खुदा से भी इंसाफ़ और मुहब्बत की उम्मीद छोड़ दें क्या?

बच्चे हमारे सवा सेर!

अगर हम यह सोचते-समझते हैं कि ऐलान-ए-जुर्म और सज़ा के बाद बच्चे बदल जाएंगे तो ऐसा नहीं होता है। हां आरज़ी सा फ़र्क़ तो ज़रूर नज़र आता है। ज़्यादा सख़्ती करने पर बच्चे वक़्त पर पहुंचते हैं, हाज़रियां कुछ बढ़ जाती हैं, हल्ला-गुल्ला कम रहता है। यानी हमारी निगरानी, फ़ौजदारी, बच्चों और उनके बड़ों पर दबाव, गुनाह के इकट्टे सुबूत, अफ़सरशाही तंत्र का धुंधलापन लेकिन ज़बरदस्त दबाव, नियम-क़ानून के लिखित पोथे, कुछ तो काम आते ही हैं। काफ़ी बच्चों को यह सबक़ भी सिखा जाते हैं कि दबाव में रहकर काम करना, “क़तार” में रहना स्कूल और ज़िंदगी का उसूल है और दबाव हटते ही मनमानी मुमकिन है। जैसे हमारे डिसिप्लिन इंचार्ज साहब के हिसाब से: “आजकल तो आपकी दुआ से स्कूल बहुत सही चल रहा है। यह दोनों चौकीदार बहुत अच्छे हैं, पूरी निगरानी रखते हैं कि बच्चे गेट के बाहर न जाएं। शकील तो ठीक है ही वह नया वाला भी बहुत ज़िम्मेदारी से गेट संभालता है। अब तो जो (बच्चों की) भागम-भाग होती है, पीछे की दीवार कूदकर ही होती है। अगर किसी दिन (चौकीदारों में से) इनमें से कोई एक भी न आए तो डिसिप्लिन का सत्यानाश हो जाता है।” क्यों, महसूस हुआ न कि, सरहद पर फ़ौजदारी का वर्णन किया जा रहा है। ढील हुई नहीं कि आफ़त आई।

यह आदत और मिज़ाज का हिस्सा बन गया है कि स्कूल के बच्चे और बड़े तब ही काम करते हैं जब कोई निगरानी कर रहा हो और उसका डर-दबाव हो। हमारे अनुशासन कमेटी के फ़ैसलों में शामिल कर लिया गया है कि, “प्रिंसिपल साहब स्कूल का संचालन करने के लिए पूरे स्कूल के 3-4 चक्कर लगाएंगे।” यानी जब तक निगरां और निगरानी मौजूद हैं और बच्चों में डर और फ़िक्र है तब तक वे खाके में ढले महसूस होते हैं। सोच-समझ, मुद्दे वहीं के वहीं बदस्तूर हैं।

बच्चे अपने तौर पर दबाव, जिसे वह नाइंसाफ़ी समझते हैं, उसका विरोध भी करते हैं। मैं यह तो पहले लिख ही चुकी हूँ कि बच्चे अपनी इज़्जत, बेइज़्जती को लेकर कितने भावुक हैं। लेकिन यह भी सच है कि जब उन्हें यह अन्दाज़ा होता है कि दबाने वाले का मुक़ाबला मुमकिन नहीं है तो चुप रह जाते हैं। वरना मुंह तोड़ जवाब भी देते हैं। हमारी डिसिप्लिन कमेटी के एक मैम्बर बच्चों से बहुत हिक़ारत से बात करते हैं। लेकिन काफ़ी पुराने सीनियर टीचर हैं और सख़्त भी मशहूर हैं तो उनके सामने बच्चे भीगी बिल्ली बने रहते हैं। बोलने के अंदाज़ का छोटा नमूना: “चल बे, अपने बाप को बुलाकर लाना तब स्कूल में घुस सकता है, यहां से भाग।” जिसे कहना चाहिए दुम दबाकर साहबज़ादे चले गए। लेकिन एक महिला नोउम्र टीचर ने कुछ कहा तो चढ़ गए। बोले, “मैम यह कैसे कहा आपने, कब देखा हमें भागते, बोलिए।” बच्चों का अलग-अलग व्यवहार उनकी ज़हनियत, यक़ीन, सोच और मर्दानगी से जुड़े तसव्वुर के बारे में बहुत कुछ बताता है। क्या उनसे इस बारे में बातचीत करना, बहस के मौके देना, अवधारणाओं और मुद्दों की समझ बनाने की कोशिश करना, कुछ मदद कर सकता है?

इसके अलावा बच्चे मिलकर भी कोशिश करते हैं, नाइंसाफ़ी भरे हालात बदलने की। जैसे हाल में हमारे बारहवीं कक्षा के बच्चों ने प्रिंसिपल साहब को यह चिट्ठी दी। यह अंग्रेज़ी के एक तजुर्बेकार टीचर के बारे में है।

“सविनय निवेदन यह है कि हम आपके बारहवीं के छात्र व छात्राएं हैं। हमें अपने अंग्रेज़ी के अध्यापक से कुछ शिकायतें हैं: कि वह ब्लैक बोर्ड पर लिखते हैं और हम कुछ बोलते हैं तो वह हमको धक्का देकर भगा देते हैं और कहते हैं कि घर जाकर ट्यूशन लो, और कुछ नहीं समझते, हमें तो डर है कि कहीं हम अंग्रेज़ी के पेपर में फ़ेल न हो जाएं क्योंकि हम सबको कुछ समझ में नहीं आता है। और जब से हमने अपने अध्यापक से इस बारे में शिकायत की तो हमारी कक्षा दो हिस्सों में बंट गई है। एक तरफ़ बदमाश बच्चे और दूसरी तरफ़ वह बच्चे हैं जो शिकायत

करते हैं। हमारे अध्यापक हमारी कोई बात सुनते ही नहीं हैं। आपसे हमारी अति कृपया है कि आप हमारे इस परचम के ऊपर सुनवाई करें।”

कभी इत्तफ़ाकन बच्चों की इस तरह की एक मिलीजुली कोशिश होती है जिसका कुछ असर दिखता है और सुनवाई भी होती है। प्रिंसिपल साहब ने बच्चों और टीचर के बीच इत्तफ़ाक पैदा करने के लिए कुछ कदम तो उठाए थे।

लेकिन ज़्यादातर तो गुस्सा बिखरा हुआ-सा ही रहता है या सिफ़ारिश-गुज़ारिश से काम चल जाता है। मोबाइल-फ़ोन लाते पकड़े जाने पर कमेटी ने यह क़ानून बनाया था कि वह ज़ब्त कर लिया जाएगा। अगर महीने भर बाद दिया भी जाएगा तो 500 रुपये का जुर्माना होगा। एक बारहवीं के बच्चे का फ़ोन ज़ब्त कर लिया गया। वह रूआंसा मेरे पास आया और बोला, “भैम, मैं कार डिस्पले का काम करता हूँ। मेरे ऑर्डर ही फ़ोन पर आते हैं। फ़ोन नहीं हुआ तो मुश्किल हो जाएगी।” पूछने पर कि कार डिस्पले क्या होता है, बताया के शोरूम वाले नए मॉडल की गाड़ी अलग-अलग मौहल्लों में एक जगह लाकर खड़ी करते हैं और उसे फोन करते हैं तब वह जाकर कार की ख़ासियतें ग्राहकों को बताता है। फ़ोन न होने पर तो मुश्किल हो जाएगी, आमदनी की बीन बज जाएगी। ख़ैर, मेरे सिफ़ारिश करने पर 500 रुपये का जुर्माना लेकर फ़ोन दे दिया गया। सिफ़ारिश के अलावा गुस्सा दिखाने के तरीक़े हैं: स्कूल की दीवारे फ़ांदना, हंगामा करना, आवाज़ें निकालना, चीज़ें तोड़ना, ताने कसना वगैरा-वगैरा। एकजुट होकर वापसी दबाव बनाना, मुद्दों को गहराई से समझना, अपनी स्थिति को बदलने की कोशिश करना तो हमने इन्हें “साज़िशन” सिखाया ही नहीं। जबकि हिम्मत हमारे बच्चों में बेजोड़ है। भई, काम करने वाले, अपनी रोटी खुद कमाने वाले, बड़ों की दुनिया का मोल-तोल जानने वाले मेहनतकश बच्चे हैं। बस इन्हें अपनी स्थिति को समझने की तालीमी नज़र कोई दे दे तो बदलने का सुराग शायद निकाल लेंगे। नीचे एक सातवीं कक्षा के बच्चे की प्रिंसिपल साहब के साथ बातचीत दी हुई है। एक दिन यह सातवीं जमात के छात्र अपने दोस्त साहब के साथ जल्दी स्कूल पहुंच गए। पता नहीं किस शौक में! जब तक कोई आया नहीं था, गेट पर ताला था जो इन्होंने तोड़ डाला। इनके वालिद को बुलाया तो उन्होंने कहा कि उन्हें काम छुड़वाकर आइन्दा न बुलाया जाए, बेटे को चाहे पुलिस के हवाले करना पड़े। इन मियां की प्रिंसिपल साहब से बातचीत मुलाहेज़ा फ़रमाइए।

प्रिंसिपल : बताओ ताला क्यों तोड़ा तुमने?

बच्चा : (दूसरों बच्चे की तरफ़ इशारा करते हुए) पत्थर इसने मुझे दिया था।

चौकीदार : दूसरा तुम्हें छत से कूदने को कहे तो तुम कूद जाओगे?

प्रिंसिपल : तुम्हें फ़ाइन भरनी होगी, तुम्हें नए ताले की कीमत देनी पड़ेगी।

बच्चा : हां, दे देंगे।

प्रिंसिपल : सौ रुपये देने होंगे।

बच्चा : ठीक है, कल ले आऊंगा।

प्रिंसिपल : कल नहीं लाओगे तो?

बच्चा : फिर दो सौ ले आऊंगा।

प्रिंसिपल : तुम्हारे पास पैसा कहां से आया?

बच्चा : मुझे रोज़ खाने के लिए चालीस रुपये मिलते हैं (बच्चा वालिद के कारखाने में काम करता है)।

ऊपर दी गई बातचीत से अन्दाज़ा तो हुआ होगा कि यह बच्चा किस दिलेरी से प्रिंसिपल साहब से बात कर रहा है। अफ़सोस, यह हिम्मत और दिलेरी शरारतों में ही ज़ाया हो जाती है। काश, हम इसे एक राह दे पाते। नियम और उसूल, हमारे बच्चों के साथ कैसा रिश्ता बन जाएगा इसको प्रभावित करते हैं। बच्चों को समाज में अलग-अलग वर्गों में छुपी अलग एहमियत और सत्ता की पहचान कराते हैं। आप ही बताइए बच्चों का संदर्भ देखते हुए, उन्हें शामिल करके क्या हम उनके लिए नियम और उसूल बना सकते हैं।

एक तरफ स्कूल और टीचर का बच्चों पर दबाव और कन्ट्रोल, दूसरी तरफ बच्चों की “नाफरमानी”, शिकायत और जवाबी हरकतें। इस दो तरफ़ा खिंचाव का नतीजा कन्ट्रोल और “कन्ट्रोल” ही हो सकता है। एक बीच का रास्ता जो नज़र आता है वह संवाद का है। संवाद बच्चों और टीचर को एक-दूसरे के नज़रियों से, फ़िक्र से रूबरू करेगा और हालात को समझने में मदद करेगा। बच्चों को नियम और उसूल होने का तर्क समझ में आएगा और वह इन्हें दबाव की तरह नहीं देखेंगे। टीचर जब बच्चों की ज़िन्दगी को क़रीब से देखेंगे तो लचीलापन इख़्तियार कर पाएंगे। बल्कि टीचर और बच्चे दोनों ही नियम बनाने में शिरकत कर सकते हैं। यह उसी सूरत में मुमकिन होगा जब संवाद के ज़रिए टीचर की अनुशासन के बारे में परिकल्पना बदलेगी। बच्चे स्कूली नियम-कानून को समझने के ज़रिए सत्ता और लोकतांत्रिक राजनीति का व्यवहारिक अनुभव कर पाएंगे। यह तो हम जानते ही हैं कि बच्चों का सामाजीकरण जिस प्रकार परिवार में होता है वह भी एक बेआवाज़-सा अनुशासन और काबू में करना ही माना जा सकता है। जिन परिवारों में संवाद की संभावना होती है वहां यह ज़बरदस्ती जैसा महसूस नहीं होता है बल्कि एक समझे-बूझे बदलाव की गुंजाइश रहती है। ऐसे परिवार रूढ़िवादी और दकियानूसी विचारों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ पाते हैं। इसी तरह स्कूल में भी संवाद के खुले रास्ते एक समझे-बूझे अनुशासन के तसव्वुर की राह दिखा सकते हैं। जब एक लोकतांत्रिक माहौल में विश्वास और हिम्मत को जगह मिलेगी तो बनाए गए नियम, कन्ट्रोल और बोझ नहीं रहेंगे और अनुशासन के मायने ही बदल जाएंगे। वे ‘काबू’ के न रहकर एक माहौल बनाने के होंगे, जिसमें सबकी साझेदारी होगी। संवाद की कमी की सूरत में हम ऊपर दी गई बच्चे की प्रिंसिपल के साथ बातचीत को बदतमीज़ी या बेइज़्ज़ती के ख़ाने में डाल देंगे। क्योंकि ऐसी सूरत में ख़ाने भी बस चन्द ही हो सकते हैं। जब बच्चों से संवाद के द्वारा एक रिश्ता बनता है तभी हम उनके मुख़्तलिफ़ हालात, तजुर्बात, सामाजीकरण के रंग जान पाते हैं और ख़ाने सितारे बन जाते हैं।

वैसे उस्तादों को अनुशासन में करने के हमारे तरीक़े बहुत फ़र्क नहीं हैं। जैसे उनके ACR (ए.सी.आर.) में गोपनीयता बरतना, निगरानी, हर बात पर संदेह यानी कई तरह के हथियार स्कूल मैनेजिंग कमेटी के हाथ में भी हैं। ऊपर से नीचे तक का मामला भेड़चाल ही चलता है। फिर कभी इस बारे में ज़ि़क़्र करूंगी।

अगली बार कुछ और कमेटियों के काम पर से पर्दा उठाने की कोशिश होगी। खासतौर से जेण्डर कमेटी की बात होगी।

(कविता (एम. ए. एजुकेशन, जामिया की छात्रा) और मुरारी झा (एम. ए. एजुकेशन, TISS के छात्र) ने स्कूल के साथ हुए अपने तजुर्बे मेरे साथ बांटे जिसके लिए मैं उनकी शुक्रगुज़ार हूँ।) ♦